देश के मध्यम वर्ग के लिए आदिवासी का मतलब "झिंगालाला झूँ झूँ"

आदिवासी अधिकार बने सजावटी गुलदस्ता

विवेक कुमार

फरीदाबाद (म.मो.) अखबार में फोटो देकर अपनी राजनीति कर लेने में सरकारों को कोई गुरेज नहीं होता क्योंकि इस देश में नया-नया पनपा मध्यम वर्ग के लिए आदिवासी का मतलब सिर्फ हिन्दी सिनेमा में बने जोकरों तक है। वे मानते हैं कि सिनेमा में जो जोकर मुंह पर काला नीला सफेद पेंट करके झींगा लाला झूँ झूँ करते हैं वही आदिवासी हैं। इससे अधिक कोई सोचता है तो बस ये कि 26 जनवरी के दिन अपने सिर पर सींग लगा कर और ढोलक बजा कर नाचने वाले आदिवासी होते हैं, इससे अधिक की आदिवासी पहचान तथाकथित गोबरपट्टी के भद्रजनों में कम ही है। यही मध्यम वर्ग अखबार भी पढ़ता है और उसमे मोदी जी की तस्वीर इन्ही अक्ल के अंधों के लिए छपती भी है। वरना क्या मजाल जो एक बहरूपिया जिनको उजाड़ रहा है उनके नाम पर वोट मांग सकता।

14 नवंबर की सुबह अखबार उठाया तो देखा मोदी के फुल साइज़ फोटो से लेकर अंदर तक के सभी पन्नों पर हरियाणा मुख्यमंत्री खट्टर, मध्यप्रदेश के बच्चों के मामा शिवपाल, झारखंड के मुख्यमंत्री सबने आदिवासियों को उनके दिवस पर बधाई दी और भरभर के अपनी फोटो छपवाई। मोदी सरकार ने लगभग सभी राष्ट्रीय अखबारों में आदिवासी दिवस के फुल साइज़ पन्ने वाले विज्ञापन बांटे। पिछले साल इसी तरह ही ठीक भारत छोड़ो आन्दोलन दिवस के दिन मूल निवासी दिवस मनाने का ड्रामा मोदी सरकार ने शुरू किया था अमूमन आदिवासी ही मूलनिवासी भी हैं पर उनके हाल क्या हैं ये आंकड़ों की जुबानी देखें तो बढ़िया रहेगा।

यूएनडीआरआईपी नाम से बने मसौदे को 22 सालों की जद्दोजहद के बाद यूएन जनरल असेम्बली ने

1. सितम्बर 2007 को आत्मसात किया। मात्र चार देशों अमेरिका, कनाडा, न्यूजीलैंड, और ऑस्ट्रेलिया को छोड़कर भारत समेत 144 देशों ने इसकी शर्तों पर हस्ताक्षर किये। इस मसौदे में मूलनिवासियों के लिए कुल 46 अधिकारों का प्रावधान है जिनमे मुख्य पांच प्रावधानों में आर्टिकल

4-आतंरिक व स्थानीय मामलों में आत्मनिर्भरता का अधिकार, आर्टिकल

5- राजनीतिक, और सांस्कृतिक मामलों में संस्था गठन का अधिकार, आर्टिकल 14- अपनी शैक्षणिक व्यवस्था बनाने का अधिकार जिसमे सरकारें उनकी मदद करेंगी, आर्टिकल 16 अपनी जबान में मीडिया बनाने और हर मीडिया हाउस में बिना भेदभाव पहुँच का अधिकार जिसे सरकार सुनिश्चित करवाए और आर्टिकल 0 कहता है कि आदिवासी इलाकों में कोई सैन्य गतिविधि नहीं होगी।

हालाकि यूएन के नियम बाध्यकारी नहीं हैं पर 144 देशों ने अपने राष्ट्र प्रतिनिधियों को महंगे नाश्ते और कबाब खिला, मोटा खर्चा कर ही दिया तो नैतिकता स्वरुप ही कम से कम कुछ लाज तो अपने ही खर्च की रखी जाती, जबकि ऐसा नहीं हुआ। इससे बेहतर तो वे देश थे जिन्होंने इस मसौदे को मानने से साफ़ मना कर दिया। भारत जैसे देश जिसके संविधान में आदिवासियों के लिए कई प्रावधान मौजूद हैं, ने यूपीए सरकार में वाह-वाही के लिए इसपर दस्तखत तो ज़रूर किये पर न खुद कांग्रेस ने इसे लागू कराया और मोदी ने तो इसपर विचार करना भी अपनी शान और सोच के खिलाफ समझा।

भारतीय संविधान की पांचवीं अनुसूची में आदिवासी बाहुल्य इलाकों की पहचान की गई है और वहां रहने वाले आदिवासियों को कई विशेषाधिकार दिए गए हैं जैसे कि आदिवासी सलाह परिषद् का गठन जो आदिवासी अधिकारों से जुडी सलाह रा'यपाल को देंगे और इसी माध्यम से राष्ट्रपति तक भी सलाह पहुंचेगी जिसपर वह आदेश लागू करवा सकता है।

आर्टिकल 29 भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का अधिकार भी देते हैं। 1996 में पेसा कानून बना जो पांचवी अनुसूची के दायरे में रहने वाले आदिवासियों को कई पंचायती अधिकार प्रदान करता है। 2006 में एक वन अधिकार कानून भी बना जिसके तहत जंगल में खेती, लकड़ी बीनने जैसे कई हक़ दिए गए।

इन सबके बावजूद आदिवासियों के ज़मीनी हालत बद से बदतर होते गए हैं। दरअसल यह सभी अधिकार सजावटी गुलदस्ते बन कर रह गए हैं। आदिवासी हक़ में बने यूएनड्रिप और भारतीय संविधान व् अन्य विशेषाधिकारों के उलट भारत में यदि सीमावर्ती इलाकों को छोड़ दें तो आदिवासी इलाकों में ही सबसे अधिक सैन्य गतिविधियाँ होती हैं, जो पूंजीपतियों द्वारा की जाने वाली खनिज की लूट को सुचारु बनाते हैं। साथ ही आज तक भारत की मुख्य मीडिया में कोई भी आदिवासी मीडिया या किसी मुख्य मीडिया में उनका स्थान नहीं बना है। स्वशासन का अधिकार भी एक मजाक बन कर रह गया है। शिक्षा व्यवस्था के नाम पर मूलनिवासियों को क्या मिला ये किसी से छिपा नहीं है। आरक्षण के माध्यम से जो प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने का काम सरकार का था उसी आरक्षण को सरकार तोड़-मोड़ के समाप्त भी कर रही है।

सरकार को अत्याचार में पीछे छोड़ते हुए सुप्रीम कोर्ट भी वर्ष 2021 के अपने एक आदेश में आदिवासियों को जंगल से बेदखल करने का फरमान जारी कर दिया जिसका असर लगभग 11 लाख आदिवासियों पर पड़ना है। सामाजिक कार्यकर्ताओं की याचिकाओं के बाद फ़िलहाल इस फैसले पर सिर्फ रोक लगी है जबकि फैसला जस का तस बना हुआ है। मजबूत वनाधिकारों व कानूनों के बावजूद केंद्र की मोदी सरकार ने आदिवासी हकों को कोर्ट में डीफेंड नहीं किया, क्योकि सरकार वास्तव में चाहती ही नहीं कि मूलनिवासियों के अधिकार सुनिश्चित हों।

खोरी विस्थापितों की शिकायत पर डबुआ फ्लैटों की जांच हेतु सुप्रीम कोर्ट ने भेजी टीम

फ़रीदाबाद (म. मो.) करीब डेढ साल पहले सुप्रीम कोर्ट के आदेश पर सूरज कुंड क्षेत्र स्थित खोरी गांव से उजाड़े गये कुछ गरीब मज़दूरों को वैकल्पिक आवास उपलब्ध कराये गये थे। अरावली के क्षेत्र में पंचतारा होटलों के बीच स्थित गरीबों की यह बस्ती मखमल में टाट के पैबंद जैसी लग रही थी। इसलिये वन संरक्षण के नाम पर सुप्रीम कोर्ट ने इन्हें उजाड़ने का आदेश दिया था। ज्यादा हो हल्ला मचने पर शर्मा-शर्मी इसी कोर्ट ने उजड़े लोगों के पुनर्वास की ब्यवस्था करने के आदेश भी हरियाणा सरकार को दिये थे।

कई महीनों तक इन उजड़े गरीबों को भटकाने के बाद नगर निगम की निगाह डबुआ कॉलोनी स्थित उन खंडहरनुमा 3200 फ्लैटों पर पड़ी जिनका निर्माण जेएनयूआरएम के तहत करीब 15 वर्ष पहले किया गया था। इनकी घटिया क्वालिटी तथा आवंटन की कड़ी शर्तों के चलते मात्र पांच प्रतिशत फ्लैटों का ही आवंटन हो सका था। इस बीच खाली पड़े इन फ्लैटों की हालत बद से बद्तर हो चुकी थी। खोरी विस्थापितों को यहां बसाने का निर्णय तो निगम ने ले लिया लेकिन आवंटन प्रक्रिया इतनी कठिन रख दी कि उसे पूरा कर पाना हरेक के बस का न था। आधार कार्ड, बोटर कार्ड तथा राशन कार्ड आदि के साथ-साथ 10 हजार रुपये नकद तथा 1950 रुपये मासिक, 20 वर्ष तक भरने होंगे। जिस गरीब को महीने भर में मिलते ही केवल 10 हजार हों तो वह कैसे और कहां से इतने रकम निगम को दे पायेगा?

जिन 141 लोगों ने जैसे-तैसे तमाम शर्तें पूरी करके ये दड़बेनुमा फ्लैट ले भी लिये तो इनमें से केवल 104 लोग ही रहने के लिये आये। इन लोगों ने पाया कि यहां न तो बिजली, पानी सीवर की कोई व्यवस्था है और न ही कोई सफ़ाई एवं नागरिक सुविधाओं की। गौरतलब है कि खोरी से उजाड़े गये परिवारों की संख्या 10 हजार से अधिक है।

बीते करीब आठ महीने से इन फ्लैटों में नारकीय जीवन जी रहे इन लोगों की गोहार जब किसी अधिकारी ने नहीं सुनी तो इन लोगों ने जैसे-तैसे सुप्रीम कोर्ट में गुहार लगाई। परिणामस्वरूप सुप्रीम कोर्ट के आदेश पर यहां एक जांच कमेटी मौका मुआयना करने दिनांक 12 को भेजी गई। इसमें एक सिविल इंजीनियर कंकन चक्रवर्ती, एक स्ट्रेक्चरल इंजीनियर के. चक्रवर्ती और एक आर्किटेक्ट इंशिप्ता मंडल थे। जांच को प्रभावित करने के लिये निगम के तमाम बड़े अधिकारी भी मौके पर पहुंचे हुए थे। निगमायुक्त जितेन्द्र दहिया बेशक सामने नहीं दीख रहे थी लेकिन थे वहीं आस-पास ही। सामने दिखाई देने वालों में ज्वायंट कमिश्नर गौरव अंतील तथा एसडीओ से लेकर चीफ़ इंजीनियर तक सभी अफ़सर शिकायतकर्ताओं की आवाज़ दबाने का प्रयास करते नज़र आ रहे थे। इनमें से एक इंजीनियर तो यह कहते भी सुना गया कि नगर निगम ने एक करोड़ पांच लाख रुपये बिजली विभाग में जमा करा दिये हैं ताकि बिजली चालू हो सके।

है न गजब; साल भर से लोग रह रहे हैं और ये साहेबान अभी पैसे जमा करने की बात कह रहे हैं। ऐसे ही लचर तर्क अन्य सुविधाओं को लेकर भी दिये जा रहे थे। इनका प्रयास था कि ये लोग जांच टीम के सामने ज्यादा कुछ न बोलें।

जांच टीम ने पत्रकारों को कुछ भी बताने से यह कहते हुए इनकार कर दिया कि वे अपनी रिपोर्ट सीधे सुप्रीम कोर्ट को ही देंगे।

कानून दमन का यंत्र बन कर न रह जाये बल्कि न्याय का यंत्र बने- सीजेआई चंद्रचूड़

मज़दूर मोर्चा ब्यूरो

शनिवार दिनांक 12 नवम्बर को, भारत के नवनियुक्त मुख्य न्यायाधीश धनंजय यशवंत चंद्रचूड़ ने अपने भाषण में कहा कि न केवल जजों की बल्कि तमाम प्रशासनिक अधिकारियों की जिम्मेदारी बनती है कि कानून केवल दमन का यंत्र बन कर न रह जाय बल्कि इसे न्याय का यंत्र बनना चाहिये। न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ ने बात तो बड़े पते की कही है परन्तु इस पर अमल कौन, कैसे और क्यों करेगा? समझने वाली बात यह है कि यह सारी शासन-प्रशासन एवं कानून व्यवस्था किसने और क्यों बनाई है?

भारत की मौजूदा प्रशासनिक एवं न्यायिक ब्यवस्था ब्रिटिश सरकार की देन है। उसने यह ब्यवस्था इस देश की जनता को अपने नागपाश में बांध कर निचोड़ने के लिये बनाई थी। दिखावे के लिये तो यह अमन-शान्ति व न्याय प्रदान करने के लिये थी, परन्तु वास्तव में इसका उद्देश्य इस देश की धन सम्पदा को लूट कर अपने देश तक निर्वाध रूप से ले जाने की थी। जो कोई इसके विरोध में खड़ा हो अथवा उनके शोषण प्रणाली में बाधक बने उसे देश-द्रोही एवं अपराधी घोषित किया जा सके। उनके इसी कानून के अनुसार सरदार भगत सिंह सहित तमाम स्वतंत्रता सेनानी देशद्रोही एवं अपराधी थे। उन सबको सजा देकर ब्रिटिश सरकार न्यायकारी होने का दावा करती थी। आज भी जो कोई सरकार पर सवाल करे उसे देशद्रोही एवं आपराधी ठहरा दिया जाता है।

1947 से मिली तथाकथित आजादी के बाद भी वही कानून एवं न्याय ब्यवस्था आज भी जारी है। वहीं पुलिस, वही भारतीय दंड संहिता, वही दंड प्रक्रिया संहिता तथा वही सब दमनकारी अधिनियम आज भी ज्यों के त्यों, बल्कि उनसे भी अधिक घातक कानून आज भी कायम हैं। ब्रिटिश सरकार ने तो एक ही जलियां वाला कांड किया था, अब तो आये दिन जहां-तहां ऐसे कांड हो रहे हैं। सरकार जिसे चाहे दोषी और जिसे चाहे निर्दोष साबित करबा देती है। न्याय मांगने वालों को ही, न्याय मांगने के अपराध का दोषी बता कर गिरफ्तार करवा देती है। जाकिया जाफ़री वाले केस में, समाज सेवी सीतलवाड तथा अन्यों के साथ कुछ ऐसा ही हुआ था। भीमा कोरे गांव केस का षडयंत्र रच कर सरकार ने देश के बेहतरीन बुद्धिजीवियों, समाजसेवियों तथा मानवाधिकारों के लिये लड़ने वालों को जेलों में बंद कर रखा है।

दरअसल न्याय शब्द का अर्थ इतना भी सरल नहीं है। कोई फैसला किसी के लिये न्याय तो दूसरे के लिये अन्याय हो जाता है। छत्तीसगढ़, झारखंड, बिहार, उड़ीसा, दंडकारण्य आदि क्षेत्रों के अदिवासियों एवं ग्रामीणों को उनके क्षेत्रों से बेदखल करके उद्योगपतियों के हवाले कर दिया जाय तो यह उद्योगपतियों के लिये न्याय और खदेड़े गये भूमिपुत्रों के लिये अन्याय हो जाता है। यही ग्रामीण लोग जब अपने जल, जंगल व ज़मीन के अधिकार के लिये आवाज उठाते हैं तो इन्हें देशद्रोही, आतंकवादी एवं अपराधी घोषित कर दिया जाता है।

ऐसा ही कुछ शहरी औद्योगिक क्षेत्रों में भी होता है। फैक्ट्री मालिक व मज़दूर के बीच विवादों का सिलसिला चलता ही रहता है। इन झगड़ों से निपटने के लिये जिन कानूनों का निर्माण किया गया है वे भी खुद कारखाने द्वारा अथवा उनके प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये हैं।

अव्वल तो कानून बनाये ही ऐसे गये हैं कि मज़दूर जीत न सके और यदि उसके जीतने की कोई सम्भावना बनती नजर भी आये तो उसे हर तरह के हथकंडों द्वारा हरा दिया जाता है। मजदूर के मुकाबले कोर्ट में लाखों रुपये का वकील खड़ा कर दिया जाता है। महंगे वकील द्वारा परिभाषित कानून की व्याख्या, मजदूर के मुकाबले, जज को ज्यादा प्रभावित करती है। यहां भी जिसके हक में फैसला होता है, उसके लिये न्याय तथा हारने वाले के लिये अन्याय ही कहा जाता है।

इस संवाददाता का, बीते 30 वर्षों का व्यक्तिगत अनुभव यह है कि जिला स्तर की न्यायपालिका, पुलिस एवं सरकार की गुलामी करती है। पुलिस द्वारा किये गये काले-पीले कारनामों को कवर-अप करने का काम अधिक करती है।

जमानत देने का फैसला भी पुलिस से पूछ कर ही करती है। विशुद्ध बरी अथवा डिस्चार्ज होने वाले मुकदमों में भी महीनों नहीं सालों तक जेल कटवा देती है। न्यायिक प्रक्रिया अपने आप में ही किसी दण्ड से कम नहीं है। न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ ने बातें तो बहुत सुन्दर-सुन्दर कही हैं अब देखना यह है कि वे किस हद तक कानून को दमन के औजार की अपेक्षा न्याय का औजार, किसके हक में बना पाते हैं? सरकार एवं पूंजीपतियों के हक में या जनसाधारण मज़दूर के हक में?